पुनर्मुद्रण

" ऋतम्भरा स्यादमृतत्ववर्षिणी "

ऋ त म्भ रा

चतुर्व्यूहवाद के परिप्रेक्ष्य में–
पातंजलयोगः एक अध्ययन

डॉ. वी. आर. शर्मा

अक्टूबर १९८८

वर्ष १ अंक ४

कैवल्यधाम, लोणावला ४१० ४०३, पुणे
महाराष्ट्र (भारत)

चतुर्व्यूहवाद के परिप्रेक्ष्य में–
पातंजलयोगः एक अध्ययन

डॉ. बी. आर. शर्मा
शोधधिकारी, दार्शनिक साहित्य–
अनुसन्धान विभाग, कैवल्यधाम,
लोनावला.

संसार में प्रत्येक प्राणी अपने जीवन की रक्षा के लिए यतमान है। जिन में मनुष्येतर प्राणी अपनी सहजप्रवृत्ति से परिचालित निरुद्देश्य जीवन यापन करता है, किन्तु मनुष्य की सदैव आनन्दमय बने रहने की इच्छा उस की मूलप्रवृत्ति होने के कारण वह प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में आने वाले अनेकविध दुःखों से पीडित हुआ सोचता हैं कि 'मै कौन हूँ ?' 'यह जगत् क्या है?' 'इस सजीव निर्जीव जगत् का मूल क्या है?' 'मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है?' 'संसार में दुःखों से छटकारा कैसे संभव है?' इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न युगयुगान्तरसे उस के विमर्शात्मक चिन्तन का कारण बनते रहे हैं जिस के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के विज्ञान एवं दार्शनिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ। योगदर्शन भी इसी विचारशृंखला का एक परिणाम है।

मनुष्य स्वभावसे ही विचारशील प्राणी है। वह तब तक किसी कथ्य को स्वीकार नहीं करता जब तक वह उसे किसी ऐसी वैज्ञानिक पद्धति की कसौटी पर कसकर परख नहीं लेता जो सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक हो, क्योंकि खरे खोटे की पहचान का सर्वोत्तम आधार वह विज्ञान को ही मानता है। भारतीय दार्शनिकों ने मनुष्य

जाति के कल्याण के लिए उसी वैज्ञानिक पद्धति के आधारपर अपने विचारों एवं अनुभवों को अभिव्यक्त किया है। भारतीय दर्शनशास्त्र में इस पद्धति को चतुर्व्यूह नाम से उद्धृत किया है। चतुर्व्यूह शब्द का व्युत्पत्यर्थ भी इसी तथ्य का प्रतीक है। 'चतुर्' शब्द सार्वनामिक विशेषण चार का वाचक है, व्यूह शब्द वि उपसर्ग पूर्वक ऊह विचारणे धातु से घञ् प्रत्यय से बना है। जिसका अर्थ है विशिष्ट प्रकार की संरचना या विन्यास। इस प्रणाली के चार मुख्य अंग है – हेय, हेयहेतु, हान एवं हानोपाय।

हेय – अर्थात् त्याज्य क्या है? संसार में दुःख का वरण कोई नहीं करना चाहता। इसलिए दुःख को हेय कोटि में रखा है।

हेयहेतु – दुःख है तो उसका कारण अवश्य होगा, इसलिए द्वितीय व्यूह को हेयहेतु की संज्ञा दी है।

हान – अर्थात् दुःख रहित अवस्था क्या है? जिसे हान की संज्ञा दी है।

हानोपाय – उस दुःखरहित अवस्था को प्राप्त करने के साधन क्या हैं?

इस विचारधारा का प्रवाह मानवीय सृष्टि के प्रारम्भ से ही होता आया है। जिसका एकरूप बुद्ध के चार आर्यसत्यों के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। जिन्हें क्रमशः दुःख, दुःखसमुदय दुःखनिरोध एवं दुःखनिरोध के अष्टमग उपाय। उनकी मान्यता है कि इन चार आर्यसत्यों के सम्यग्ज्ञान से मनुष्य दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि ने अपने सूत्रग्रन्थ में चतुर्व्यूहशब्द का प्रयोग नहीं किया, परन्तु इस चतुर्व्यूहात्मक पद्धति के चार आधारभूत स्तम्भों की स्पष्ट रूप से चर्चा की है। जिस का स्पष्ट उल्लेख भाष्यकार व्यास ने किया है – "जिस प्रकार चिकि

त्साशास्त्र में रोग, रोग का कारण, आरोग्य एवं आरोग्यहेतु भैषज्य रूप चार व्यूह हैं, उसी प्रकार योगशास्त्र में संसार, संसार का कारण, मोक्ष एवं मोक्षोपाय रूप चतुर्व्यूहात्मक पद्धति का प्रतिपादन किया है''। यहाँ संसारका अभिप्राय दुःख ही है, क्योंकि संसार दुःखों से परिपूर्ण है। अतः दुःख रूप ही है। उपर्युक्त चार व्यूहों के परिप्रेक्ष्य में योग दर्शन को समझने की जिज्ञासा ही इस शोधप्रबन्ध का उद्देश्य है।

हेय अर्थात् त्याज्य क्या है? महर्षि पतंजलि ने 'हेयं दुःख-मनागतम्' (यो. सू. II/16) सूत्र से दुःख के स्वरूप पर प्रकाश डाला हैं। सूत्र में आए दुःख एवं अनागत पद विचारणीय है। दुःख का सामान्य अर्थ है – अरूचिकर या पीडाकर। अरूचि या पीडा के अनेक प्रकार हो सकते है। भाष्यकार ने विक्षेपों के संदर्भ में (यो. सू. I/31) में आए दुःख के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है जो अन्यत्र भी प्रसिद्ध है। शरीर एवं मन के कारण से उत्पन्न दुःख आध्यात्मिक दुःख कहे जाते हैं। उन में शारीरिक दुःख वे दुःख हैं जो वात, पित्त एवं कफ आदि की विषमता के कारण ज्वर अति-सारादि के रूप में होते हैं। मनोनिष्ठ कामक्रोध, लोभमोहादि के कारण से होनेवाले दुःख मानसिकदुःख कहे जाते हैं। सर्प, बिच्छु, चोर एवं व्याघ्र आदि प्राणियों से प्राप्त दुःख आधिभौतिक दुःख कहे जाते हैं तथा इन्द्रादि देवों द्वारा वज्रपात ग्रहपीडा, अतिवृष्टि आदि के कारण उत्पन्न दुःख आधिभौतिक दुःख कहे गये हैं। इस प्रकार के अनेकविध दुःखोंसे पीडित मनुष्य सांसारिक उपायों के माध्यम से उन दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना अपना ध्येय समझने लगता है, किन्तु उन उपायों से प्राप्त सुख भी उस के दुःख का ही कारण बनता है। महर्षि पतंजलि ने (यो. सू. II/15।) बडी सूक्ष्मता से सांसारिक विषय सुख को दुःखरूप सिद्ध करने के लिए चार हेतु उपन्यस्त किए हैं।

परिणाम दुःख – विषयसुख के अनुभव से उस विषय के प्रति राग होना स्वाभाविक है। जहाँ राग होगा वहां द्वेष, मोह एवं हिंसा

१. यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूहम् रोगो, रोगहेतुरारोग्यं भेषज्य-मिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा–संसारः, संसारहेतु, मोक्षो मोक्षोपाय एवेति (व्या. भा. II/15)

आदि निश्चित रुप से रहेंगे ही। यह राग चेतन (स्त्रीपुत्रादि) एवं अचेतन (गृहादि) साधनों के अधीन होता है। जिस से रागज कर्माशय उत्पन्न होते हैं तथा परिणाम में असंख्य दुःखों का कारण बनते हैं।

तापदुःख–विषयसुख के साधनों में जो बाधाएँ आती हैं उस से द्वेषज-कर्माशय उत्पन्न होते हैं। मनुष्य सांसारिक सुखोपलब्धि हेतु मन एवं वचन से चेष्टा करते हैं। दूसरों पर अनुग्रह करते हैं या उन्हें पीडा देते हैं। इस प्रकार परानुग्रह एवं परपीडा द्वारा धर्म–अधर्म रूप कर्माशयों का ही संचय होता है जो अनेकविध दुःखों कें कारण बनते हैं।

संस्कारदुःख– यह सर्वविदित है कि अनुभव से संस्कार बनते है तथा उन्हीं संस्कारों के आधार पर स्मृति उत्पन्न होती है। अतः सुखानुभव से सुखसंस्काराशय एवं दुःखानुभव से दुःखसंस्काराशयों का संचय होना भी स्वाभाविक है तथा उन्हीं के आधार पर सुखदुःखात्मक स्मृति भी दुःख का ही कारण बनती है।

गुणवृत्तिविरोध– गुणों के अर्थात् सत्व, रज एवं तम के परस्पर विरोधी स्वभाव के फल स्वरूप इन गुणों का क्रमशः सुख, दुःख एवं विषादरूप में परिवर्तित होना नैसर्गिक है। यही गुण सभी प्रकार के दुःखों के कारण हैं। जिन के आधार पर मनुष्य निजकर्मोपार्जित सुख दुःख को प्राप्त करता है, भोग करता है एवं भोगकर फिर प्राप्त करता है तथा अनेकविध दुःखों से पीडित रहता है। अतः पतंजलि ने सांसारिक विषयसुख को भी दुःख का ही कारण होने से हेयकोटि में ही रखा है।

अब प्रश्न उठता है कि पतंजलि ने अनागत दुःख को ही विशिष्ट रूपसे हेय क्यों कहा? उक्त जिज्ञासा के समाधान के लिए अनागत पद पर विचार करना आवश्यक है। पतंजलि का अभिप्राय यह है कि भूत, वर्तमान एवं भविष्य इन तीनों कालों से सम्बन्धित

दु:ख हेय की कोटि में नहीं आते, क्योंकि भोगद्वारा नष्ट हुए अतीतक्षण के दु:ख तथा वर्तमानक्षण में भोगारूढ दु:ख के प्रति हेयबुद्धि व्यर्थ है, क्योंकि उसी पदार्थ के प्रति द्वेषपरक बुद्धि रखना उचित है जो द्वेष्य के कारण का क्षय करने में समर्थ हो। अत: जो कर्माशय बन चुके हैं। उन के सुख दु:खरूप फलों को भोगना ही पडेगा। जो धर्माधर्मरूप कर्माशय भविष्यमें सुखदु:ख का कारण बनते है अगर उन कारणों के कार्य उत्पादन की शक्ति को ही क्षीण कर दिया जाय तो भविष्य में दु:खों से बचा जा सकता है। इस प्रकार पतंजलि ने दु:ख के साथ अनागत पद जोडकर विशिष्ट प्रकार से दु:ख के स्वरूप को स्पष्ट किया है।

दु:ख के स्वरूप को जानने से दु:ख दूर नहीं हो जाते। अत: जिज्ञासा होती है कि इन सब दु:खों का मूलकारण क्या है ? अर्थात् हेयहेतु क्या है ? भारतीय दर्शनशास्त्र में अविद्या, अज्ञान, अविवेक या मिथ्याज्ञान को ही दु:खों का मूलकारण बताया गया है। भलेही दर्शनकारों ने इस अविद्यादि को अपने–अपने ढंग से समझने का प्रयास क्यों न किया हो। जैसे बौद्ध दर्शन ने प्रतीत्यसमुत्पाद के आधारपर दु:ख के कारण को जानने का प्रयास किया है, किन्तु पतंजलिने। (योग. सू. II/17) द्रष्टा दृश्य के संयोग को दु:खों का कारण कहा है। द्रष्टा नाम चेतनशक्ति का है जिसे पुरुष, आत्मा चितिशक्ति आदि नामों से जाना जाता है। दृश्यपद का अभिप्राय समस्त प्रकृतिजन्य पदार्थों से है। जब पुरूष या आत्मा इस जडात्मक दृश्य जगत् से अपने आप को अभिन्न मानता है वही उसका औपाधिकरूप द्रष्टा कहा गया है। अत: दो भिन्न तत्वों में अभिन्नता का भास ही समस्त दु:खों का मूल कारण कहा गया। यहाँ संक्षेप में द्रष्टा–दृश्य एवं संयोग पदों पर विचार करना अपेक्षित है। जिस से हेय दु:ख के हेतु को स्पष्ट किया जा सके।

यहाँ सूत्र में आए पहले द्रष्टा के स्वरूप को बतलाना चाहिए था, किन्तु सूत्रकार ने दृश्य के स्वरूप को पहले वताया, क्यों कि द्रष्टा को समझने से पूर्व उस के विषयभूत दृश्य को समझना जरूरी

था। अतः सर्वप्रथम दृश्य के स्वरूप पर विचार करते हुए सूत्रकार (यो. सू. II /18)का अभिप्राय है कि प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत एवं इन्द्रिय जिस का स्वरूप है तथा भोग एवं अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वही दृश्य है। संसार में द्रष्टा का संयोग इन्हीं पदार्थों से रहता है। इसे साधारण शास्त्रीय व्यवहार में प्रकृतिपुरुष संयोग कहा जाता है, परन्तु सूत्रकार ने दृश्य पद के प्रयोग से स्पष्ट किया है कि दृश्य अर्थात् कार्यजगत् के साथ ही पुरुष (द्रष्टा) का संयोग है। अव्यक्तप्रकृति के साथ पुरुष का संयोग किसी कार्य का साधक नहीं हो सकता। इसलिए दृश्य का अर्थ प्रकृतिजन्य व्यक्त पदार्थ महत् से स्थूल भूत पर्यन्त ही समझने चाहिए। सूत्र में आए प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति क्रमशः सत्व, रज एवं तम गुणों के स्वभाव हैं। ये तीनों गुण यद्यपि पृथक् स्वभाव वाले हैं, तो भी परस्पर उपरक्त रहते हैं। सत्वगुण अपने प्रकाश का उदय रजोगुण के सहारे करता है तथा तमोगुण की विद्यमानता के कारण केवल नियत पदार्थ को ही प्रकाश में लेता है। एकसाथ विश्व के सभी पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता। इसी प्रकार रजोगुण की प्रवृत्ति का प्रकाश भी सत्वगुण के उपराग से होता है तथा तमोगुण के प्रभाव से वह प्रवृत्ति नियन्त्रित रहती है। इस प्रकार ये गुण एक दूसरे से मिलकर महतत्व से लेकर पृथ्वी आदि नानाविध जगत् के उत्पादक है। जैसे स्त्री पुरुष अन्योन्यमिथुनीभाव से पुत्रादि सृष्टि के उत्पादक हैं वैसे ही ये गुण भी परस्पर उपाश्रय से नानाविध सजीव निर्जीव सृष्टि के उत्पादक हैं।

ये तीनों गुण ही निस्वार्थभाव से पुरुष के भोग एवं अपवर्ग का सम्पादन रूप उपकार करते हैं। जिस प्रकार चुम्बक लोहखण्ड का आकर्षण करके अपने स्वामी को उपकृत करता है उसी प्रकार ये तीनों गुण विषय निवेदन द्वारा अपने स्वामी द्रष्टा पर उपकार करते हैं। द्रष्टा का उपकरण होने के कारण ही इन्हें गुण कहा जाता है। जिस समय पुरुष इस दृश्य के इष्ट अनिष्ट स्वरुप को धारण करता है अर्थात् अपने से अभिन्न मानता है तभी सुखदुःख को प्राप्त

होता है । यही उस का भोग है । जब दृश्य, पदार्थों से भिन्न अपने स्वरुप में उपस्थित हो जाता है उसी को अपवर्ग की संज्ञा दी गई है । इस प्रकार जगत् में मूलत: प्रकाश क्रिया एवं स्थिति ये तीन मौलिक क्रियाएँ ही दृष्टिगोचर होती है । इन तीनो गुणों की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है । जिसका कारण न होने से उसे नित्य माना जाता है । पुरुष प्रयोजन की सम्पन्नता के लिए इस की समस्त प्रवृत्तियां विषम अवस्था मे होती है । वह अवस्था नैमित्तिक है, इस लिए अनित्य है । गुणों को इस अभिव्यक्तावस्था के आधार पर इन कार्यों को (यो. सू. II/19) पर्वों की संज्ञा दी है जो निम्नसारिणी के माध्यम से समझे जा सकते है ।

अलिङ्ग (प्रकृति)
|
चेतना --- लिङ्ग (महत् या बुद्धि)
|
अस्मितामात्र ---अविशष--- पंचतन्मात्रा या सुक्ष्मभूत
करण | विषय
एकादशइन्द्रियाँ= विशेष --- स्थूलभूत
चेतना + करण + विषय = व्यक्ति

इन्हीं चार पर्वो के आधार पर समस्त दृश्य अर्थात् संसार को समझा जा सकता है । सूत्रकार ने सृष्टि को प्रतिसर्ग क्रम से दर्शाया है अर्थात् विशेष को पहले कहकर अलिङ्ग को अन्त में कहा है । इस का कारण यह हो सकता है कि प्राणी सर्वप्रथम स्थूल तत्वों के सम्पर्क में आता है, जो विशेष वर्ग के तत्व है, क्यों कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना सरल होता है । इसी दृश्यजगत् के साथ द्रष्टा का व्यवहार रहता है ।

द्रष्टा के स्वरूप विवेचन के प्रसंग में सूत्रकार ने द्रष्टा को (यो. सू. II/20) दृशिमात्र एवं शुद्ध कहा, साथ ही वे उसे बुद्धिवृत्ति के अनुरूप देखने वाला भी मानते हैं । भाष्यकार ने दृशिमात्र का तात्पर्य उस का किसी भी विशेषण से रहित होना कहा है ।[1]

१. व्या. भा. II/20

वाचस्पतिमिश्र विशेषण का अर्थ धर्म कहते हैं1 । विज्ञानभिक्षु के अनुसार सभी गुणों का अन्तर्भाव "सत्वरजतम" इन तीनों गुणों में हो जाता है2 । अतः समस्त गुणों से रहित होना ही दृशिमात्रत्व कहा हे वे 'दृशि' को पुरुष का गुण न मानकर उस का स्वरूप मानते हैं । उन्होंने अपने कथ्य की पुष्टि निम्न श्लोक से की है–

ज्ञानं नैवात्मनोधर्मो न गुणो वा कथंचन ।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्य सर्वगतः शिवः ।।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि अगर पुरुष द्रष्टा ज्ञान स्वरुप है तो ज्ञान का आश्रय कैसे हो सकता है? अर्थात् ज्ञान स्वरुप धर्म का आधार होने से दृशिमात्र कैसे हो सकता है? सूत्रकार ने इस का समाधान 'शुद्धोऽपि' प्रत्ययानुपश्य पद के प्रयोग से किया है । उन का कहना है कि यद्यपि वह स्वभाव से ज्ञान का आधार न होने से शुद्ध ही है तथापि वुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्वित होने से उस बुद्धि के धर्मभूत ज्ञान का आधार प्रतीत होता है । इसलिए बुद्धिवृत्ति का अनुकारी होने से पुरुष 'प्रत्ययानुपश्य' कहा गया है। सूत्र में आए 'शुद्धोऽपि' कहने से पुरुष के वास्तविक एवं औपाधिक दो रूपों का पता चलता है । बुद्धिवृत्ति का अनुकारी होना ही उसका औपाधिक रूप है । उस उपाधि से रहित होना उसका अपनें वास्तविक रूप में अवस्थित होना है । जव तक द्रष्टा बुद्धिवृत्ति के अनुरूप देखता है तब तक वह दृश्य जगत् के साथ संयुक्त रहता हुआ बुद्धि के सुख-दुःख रूपी धर्मों को अपना सुखदुःख मानता है । यही द्रष्टा एवं दृश्य का संयोग वास्तव में मनुष्य के दुःख का मूल कारण है । अतः इस संयोग पर विचार करना अपेक्षित लगता है कि यह संयोग क्यों हुआ? एवं इस का कारण क्या है?

संयोग का सामान्य अर्थ है– "संयुज्यते तादर्थ्येन बोध्यतेऽनेनेति संयोग" । अर्थात् दो पृथक् वस्तुओं का अपृथक्भाव से एक

१. तत्ववै. II/20.
२. योगवा. II/20.

प्रतीत होना । द्रष्टा एवं दृश्य दोनों पृथक् असंकीर्ण सत्ताएँ है किन्तु अहंभाव में उन का संयोग देखा जाता है, क्यों कि 'मैं' का कुछ अंश द्रष्टा रूप में तथा कुछ अंश दृश्य रूप में अनुभुत होता है यही अहं-भाव तथा उस से उत्पन्न प्रपंच है जो मनुष्य को अपने बास्तविक स्वरूप का भान नहीं होने देता ।

महर्षि पतंजलिने "स्वस्वमिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः" (यो. सू. II/20) सूत्र से संयोग के स्वरूप पर प्रकाश डाला हैं । सूत्र में स्वपद दृश्य का वाचक एवं स्वामी पद चेतन द्रष्टा का वाचक है। द्रष्टा के द्वारा स्वशक्ति अर्थात् दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि भोग हैं तथा स्वामि-शक्ति अर्थात् आत्मरूप की उपलब्धि अपवर्ग है । यह संयोग भोग एवं अपवर्ग रूप उपलब्धि का हेतु है स्व एवं स्वामी की इस स्थिति को स्व स्वामिभावसम्बन्ध या भोगभोवतृभाव सम्बन्ध कहा जाता है । पुरुष इस अवस्था को कैसे प्राप्त होता है। इस अवस्था का कारण अविद्या है ऐसा सूत्रकारने कहा 'तस्यहेतुरविद्या' (यो. सू. II/21) इस से यह ज्ञात होता है कि बुद्धि एवं पुरुष का यह संयोग सनिमित्तिक है । अतः जो सनिमित्तिक होता है, उस का नाश अवश्य होना चाहिए । अविद्या से तात्पर्य है– अनात्म में आत्मभाव की प्रतीति । अविद्या शब्द में नञ् अर्थ दो प्रकार का है । प्रसज्य-प्रतिषेध एवं पर्युदास। जिस में पहले का अर्थ है 'प्राप्तिपूर्वक निषेध'। इस पक्ष में अविद्या का अर्थ होगा– विद्या का अभावमात्र– परंतु यह अर्थ संगत नहीं लगता, क्योंकि अभावरूप पदार्थ कर्माशय का मूल हो ही नहीं सकता । अविद्यारूप क्लेश कर्माशय के मूल में है। "क्लेशमूलः कर्माशयःदृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः (यो. सू. II/21) ऐसा शास्त्र कहता है । पर्य्युदास का अर्थ है– भेद, कुछ स्थलों में यह भेद विरोध भी होता है । जैसे अधर्म का अर्थ है धर्मविरोधी (पाप) जो धर्म का नाश करता है । पर्युदास पक्ष में अविद्या का अर्थ होगा– विद्या से भिन्न, विद्याविरोधी । अविद्या को अदर्शन भी कहा जाता है। इस अविद्या के या अदर्शन के अभाव में बन्ध का अभाव होना ही मोक्ष है । अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त होना है । भाष्यकार

तथा अन्य व्याख्याकारों ने अदर्शन के आठ विकल्प प्रस्तुत किए हैं जिन में चौथा विकल्प "प्रलयकाल में चित्त की उत्पत्ति की बीजभूत मिथ्याज्ञान की वासनाएँ चित्त के साथ ही प्रकृति में लीन रहती है। वही अदर्शन है" यही पतंजलि का सिद्धान्तपक्ष है। उक्त वासनात्मक अविद्या या अदर्शन तत्‌तत् पुरुष के साथ तत्‌तत् बुद्धि के संयोग का हेतु है इस सेप्रत्येक पुरुष का भोग वैचित्र्य भी उपपन्न हो जाता है।

इस प्रकार मिथ्याज्ञानजनितवासनारुप अविद्या ही उस संयोग का कारण सिद्ध हुई। अव प्रश्न उठता है कि इस अविद्या का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में पतंजलि ने 'तासामनादित्वं-चाशिषो नित्यत्वात् (यो- सू. IV/10) सूत्र से अविद्या को अनादि स्वीकार किया है। जिस का अभिप्राय यह होगा कि अविद्याजनित संयोग भी अनादि ही कहा जाना चाहिए। ऐसा मानने पर उस दुःख के कारण रूप संयोग का उच्छेद होना असंभव हो जाएगा। किन्तु सूत्रकारने इस समस्या का समाधान 'हेतुफलाश्रयालम्वनैःसंगृहीतत्वा-देषामभावे तदभाव' (यो. सू. 4/11) सूत्र से किया है। उन का अभिप्राय यह है कि वासनाएं अनादि तो है किन्तु अनन्त नहीं, क्यों कि वासनाओं का कारण अविद्या, राग, द्वेषादिक्लेश एवं कृष्ण–शुक्लादिकर्म है। जातिआयु एवं भोग उन के फल हैं। उन वास-नाओं का आश्रय चित्त है। इन्द्रियों के शब्दादि विषय उन के आलम्बन है। अतः यह प्रवाहरूप से अनादि हैं। इन का आविर्भाव इन्ही चार कारणों से होता है। उन कारणों का अभाव होने से उन का भी अभाव हो सकता है। अभाव से तात्पर्य अत्यन्ताभाव से नहीं, अपितु कार्य का कारण में लीन होने से है। (यो. सू.4/12)

यथार्थज्ञान या विवेकज्ञान द्वारा उस मिथ्याज्ञानजनित वासनारूप अविद्या के नष्ट होने पर बुद्धि एवं पुरुष का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। चित्त अपने कारण मूल प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसे ही कैवल्य कहा गया है। यही अवस्था हान की अवस्था है, जो योग में कैवल्य शब्द से परिभाषित है।

सूत्रकार ने "तद्भावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्" (यो. सू. II/25) सूत्र से हानव्यूह को दर्शाया है। उन का अभिप्राय है कि अविद्या के विरोधी यथार्थज्ञान से मिथ्याज्ञानजनित-वासनारूप अविद्या के अभाव से द्रष्टा एवं दृश्य का संयोग जो दुःखों का कारण है, उस का अभाव हो जाता है। यह हान ही उस चिति शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित होना है। इस अवस्था में पुरुषार्थशून्य सत्वादि गुण अपने प्रतिलोम परिणाम क्रम से अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं तथा चितिशक्ति पुरुष का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने से अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य की स्थिति है। (यो. सू 4/34)

हान व्यूह की चर्चा में हान के स्वरूप पर विचार किया गया। यह अवस्था किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है? उस के साधन क्या है? यह प्रमुख प्रश्न है। अतः हानोपायरूप चतुर्थव्यूह की अवतारणा हुई। सूत्रकार ने "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" (II/26) सूत्र से अविप्लव विवेकख्याति को अविद्या के नाश का अचूक उपाय बताया। उन की दृष्टि में अविद्या का नाश करने के लिए द्रष्टा एवं दृश्य का अविछिन्न भेदज्ञान ही अनुपम उपाय है। विवेकख्याति में आए विवेक पद का तात्पर्य है– चित्त या बुद्धि एवं पुरुष अर्थात् चेतनशक्ति का भेदज्ञान, तद्विषयक जो ख्याति या प्रबल ज्ञान अथवा मन में जो प्रख्यातभाव है, वही विवेकख्याति है। यद्यपि आगम एवं अनुमान प्रमाण के द्वारा भी द्रष्टा एवं दृश्य के भिन्न भिन्न स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, किन्तु उस में व्युत्थानात्मक प्रत्यय एवं तज्जन्य संस्कार का नाश नहीं हुआ करता। उन के पुनः उभरने की आशंका बनी रहती है। अतः यौगिक पद्धति द्वारा प्राप्त विवेक-ख्याति ही हान का उपाय है। जिस साधक ने उस अविप्लव विवेक-ख्याति को प्राप्त कर लिया उस की प्रज्ञा किस प्रकार की होती है इसे सूत्रकार ने "तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिःप्रज्ञा" (यो. सू. II/27) सूत्र से कही है। योग के अनुसार समस्त ज्ञानों में उत्कृष्टतम वही ज्ञान है जो राजस एवं तामस वृत्तियों से रहित विशुद्ध सत्वगुणप्रधान

एकाग्रचित्त में पल्लवित एवं कुसुमित होता है। जिस समय वह ज्ञान फलोन्मुख होता है उस समय सात प्रकार की प्रज्ञाओं का उदय होता है। ये प्रज्ञाएं उस विवेकज्ञान की परिपूर्णता का सोपान हैं। इसलिए प्रान्तभूमि नाम से परिभाषित है । प्रान्तभूमि शव्द का विग्रह वाचस्पतिमिश्र ने 'प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमिनामवस्थानां तास्तथोक्ता:' (त. वै. I /27) किया है। उन का अभिप्राय है कि ज्ञान एक ही है तथापि प्रज्ञा के सात भेद विषयभेद पर आधारित हैं। "विषयभेदात् प्रज्ञाभेद:" अर्थात् विषयभेद से ज्ञानभेद होता है जैसे रूपज्ञान स्पर्श-ज्ञान से भिन्न है– एक ज्ञान रूपविषयक और दूसरा स्पर्शविषयक महर्षि व्यास ने (व्या. भा. II/27) प्रज्ञा के इन सात भेदों को दो समूहों में विभाजित किया हैं– कार्यविमुक्ति एवं चित्तविमुक्ति। कार्यविमक्ति वे प्रज्ञाएँ हैं जो प्रयत्नसाध्य हैं तथा चित्तविमुक्ति वे प्रज्ञाएं हैं जो कार्यविमुक्ति प्रज्ञाओं के प्राप्त होने पर विना किसी प्रयास के स्वत: सिद्ध होती है। विस्तारभय के कारण यहाँ उन के नाम मात्र गिनाए गये हैं– हेयशून्यावस्था, ज्ञेयशून्यावस्था, प्राप्यप्राप्त अवस्था, चिकीर्षाशून्यावस्था, चित्तविमुक्तिअवस्था, गुणलीनता एवं कैवल्यावस्था।

पातंजल योग सूत्र में उक्त विवेकख्याति को प्राप्त करने के विभिन्न साधनों का उल्लेख मिलता है । जैसे अभ्यास वैराग्य, 1. क्रियायोग, 2. एवं अष्टाङ्गयोग १. इत्यादि । इस प्रकार विभिन्न साधनों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि पतंजलि के मन मे अधिकारि–भेद की कल्पना रही होगी। यद्यपि स्वयं पतंजलि ने इस तथ्य का कहीं भी स्पष्टउल्लेख नहीं किया है।

---

1. योग सूत्र I/12, 2. वही II/1

१. वही II/29.

भाष्यकार व्यास२. तथा वाचस्पति मिश्र३. आदि व्याख्याकारों ने साधकों की श्रेणियों के आधार पर उक्त साधनों का उल्लेख किया है । उन के अनुसार जिन साधकों का चित्त पूर्वजन्म के शुभ संस्कारों से समाहित रहता है । ऐसे उत्तमकोटि साधकों के लिए अभ्यास वैराग्य रुप उपाय एवं दूसरे प्रकार के साधक जिन का चित्त व्युत्थित है अर्थात् वासनाओं में फसा हुआ है । परन्तु फिर भी वे योग मार्ग को अपनाने के इच्छुक है, उन के लिए क्रियायोग एवं अष्टांगयोग रूप उपायों का निर्देश मानते हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि क्रियायोग में तप–स्वाध्याय–ईश्वरप्रणिधान रूप जिन उपायों का उल्लेख मिलता है, वे तो अष्टांगयोगमें वर्णित नियमों के अन्तर्गत आ ही जाते है तो पतंजलि को उन की विशिष्ट क्रियायोग संज्ञा देने की क्या जरूरत थी ? इस के समाधान हेतु योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षुने तीन प्रकार के अधिकारियों की कल्पना की है । उत्तम, मध्यम एवं मन्द जिनकी क्रमशः योगारूढ, युंजान एवं आरूरूक्षु संज्ञा दी है ।४. उन के अनुसार पूर्वजन्म में जिन्होंनें अनवरत अभ्यास के द्वारा यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार रूप पंचबहिरंग योग को सिद्ध कर लिया है ऐसे उत्तमकोटि साधकों के लिए अभ्यासवैराग्य रूप उपायों का विधान है । अपने कथ्य की पुष्टि में उन्होने शिशुपाल का उदाहरण दिया है ।५. शिशुपालको स्मरण के अभ्यास मात्र से मोक्षप्राप्ति हो गयी थी । मेरे मतानुसार अभ्यास एवं वैराग्य दोनों का एक साथ सिद्ध होना अपेक्षित लगता है । भाष्यकार व्यास

---

२. उद्दिष्टः समाहितचित्तस्ययोगः कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तःस्यात्ः (व्या. या. II/1)

३. त. वे. II/1

४. तत्र मन्दमध्यमोत्तमणेदन त्रिविधा योगाधिकारिणी भवन्त्या रूक्षुयुंजनयोगारूढ रूपः । (योगसारसंग्रह पृ. 37)

५. यो. वा. II/1,   व्या. भा. I/12

ने चित्तनदी की जिन दो धाराओं का उल्लेख किया है[१]. इसका यही अभिप्राय है कि मनुष्य की विषयों की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति संसारप्रदायिनी अर्थात् दुःखदायिनी धारा है। उस धाराको वैराग्य के द्वारा रोका जा सकता है तथा मोक्षप्रदायिनी धारा से अर्थात् विवेकदर्शन के अभ्यास से विवेकस्रोत को उद्घाटित किया जा सकता है।

इसी प्रकार पूर्वजन्म के अभ्यास के कारण जिनका चित्त कुछ एकाग्र हो चुका है उन मध्यकोटि साधकों के लिए क्रियायोग की साधना का उल्लेख किया है। क्रियायोग में "तप–स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान" को रखा गया है। तप में शरीर एवं इन्द्रियों को उतना ही क्षीण करना अभीष्ट है जिस से धातु वैषम्य न हो क्योंकि धातु वैषम्य के कारण शरीर योग साधना में असमर्थ हो सकता है। स्वाध्याय–चित्त को संसारिक विषयों से हटाने के लिए सद्ग्रन्थों का अध्ययन, ईश्वरप्रणिधान–सभी प्रकार के कर्मो को ईश्वर अर्पित करना ही ईश्वरप्रणिधान हैं। क्रियायोग क्लेश की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक समाधि एवं मोक्ष का परम्परया कारण है।

अत्यन्त चंचल स्वभाव के मन्दकोटि गृहस्थाश्रमियों के लिए अष्टांगयोग रूप उपाय का उल्लेख किया है। क्यों कि विषयवासनाओं से जर्जर उन का चित्त अभ्यासवैराग्य एवं क्रियायोग जैसे दुःसाध्य उपायों में सहज क्रियात्मक रूप नहीं ले पाता। यहाँ अष्टांयोग की विस्तारभय से व्याख्या नहीं की है। कुछ भी हो, क्लेश संकुल संसार से दुःख–निवृत्ति के लिए एवं विवेक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सुगम एवं सुप्रसिद्ध मार्ग अष्टांगयोग को स्वीकारा गया है। पतंजलि ने जितने भी उपायों का उल्लेख किया है उन सब का अन्तर्भाव अप्टांगयोग में हो जाता है।[२] किस अंग में कौन सा साधन अन्तर्भूत माना जा सकता है इसे स्पष्ट करते हुए विज्ञान-

१. व्या. भा. I/12.

२. अभ्यासवैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि यथा योगमेतेष्वेव स्वरूपतो अन्तर्भावयितव्याः। (त. वै. II/29)

भिक्षु लिखते हैं२. कि वैराग्य का सन्तोष में श्रद्धादि का तप आदि में एवं चित्तपरिकर्मों का धारणा, ध्यान एवं समाधि में तथा क्रिया-योग का अष्टांगयोगान्तर्गत नियमों में अन्तर्भाव हो जाता है। सूत्र-कार ने भी 'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते: (यो. सू. II/28) सूत्र से मिथ्य या ज्ञानजनित अविद्या रूप अशुद्धिके क्षय एवं विवेकख्याति को प्राप्त करने का अचूक उपाय अष्टांगयोग को ही स्वीकार किया है। सूत्र में आए 'योगाङ्गानुष्ठान' पद का अभिप्राय है– ज्ञानमूलककर्मोंका आचरण एवं अशुद्धि पद का तात्पर्य केवल अज्ञान नहीं अपितु अज्ञानमूलककर्म और उन के संस्कारों से है। तात्पर्य यह है कि योगाङ्गानुष्ठान मिथ्य या ज्ञानजनितवासना अविद्या के वियोगका कारण है तथा वही अनुष्ठान विवेकख्याति रूप की प्राप्ति का कारण है। उस विवेकख्याति का निरन्तर अभ्यास करता हुआ साधक उस की प्राप्ति के फलस्वरूप मिलनेवाली और भी अनेकविध सिद्धियों की भी कामना नहीं करता । अपितु उन्हें दोषयुक्त मानता हुआ उन से भी विरक्त रहता है। तब बुद्धि एवं पुरुष के भेद ज्ञान रूप विवेक का निरन्तर प्रवाह ही साधक के चित्त में रहता है। उस ज्ञान की अनवरतता ही अविप्लवविवेकख्याति है जो सूक्ष्मरूप से विद्यमान मिथ्याज्ञान को दग्धबीजभाव कर देती है। अन्तत: मिथ्याज्ञान के आश्रयभूत चित्त की निवृत्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि महर्षिपतंजलि ने दर्शन-शास्त्र में प्रचलित चतुर्व्यूहात्मक सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उन्होंने उस सिद्धान्त को न केवल सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में अपितु उसे सभी साम्प्रदायिक पक्षपातों से रहित होकर व्यावहा-रिकता की दृष्टि से देखा है। यही कारण है कि सभी दर्शनों ने योग

---

२. तत्र वैराग्यस्य संन्तोषे प्रवेश: श्रद्धाऽऽदीनां च तप आदिषु, परिकर्मणां च धारणाऽऽदित्रिक् इति। (यो. वा. II/29)

की उपादेयता को स्वीकार किया है । अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने योगविषयक बहुमूल्य अनुभवों एवं विचारों को जिन का प्रवाह वैदिक वाङ्मय से प्रवाहित होता आ रहा था, उन इतस्तत बिखरे विचारों एवं अनुभवों को इस चतुर्व्यूहात्मक पद्धति की कसौटी पर परखते हुए यथास्थान एकत्रित कर योगजिज्ञासुओं एवं साधकों के लिए इस योगमार्ग को प्रशस्त किया है । कोई भी व्यक्ति अपने जीवन की प्रयोगशाला में इस योगविद्या का अभ्यास कर संसार में सुखी जीवन यापन करता हुआ परमलक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है ।

★ ★

न पापे प्रतिपापः स्यात्, साधुरेव सदा भवेत् ।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ।।
(महाभारत व. प- २०७/४५)

(पाप करनेवाले के प्रति बदले में पाप न करे– बुरा करनेवाले से बदला न ले । सदा साधुस्वभाव से ही रहे । जो पापी किसी के प्रति अकारण पाप करना चाहता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है) ।

♣ ♣ ♣

असतां दर्शनात् स्पर्शात्, संजल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिध्यन्ति च न मानवाः ।।
म. भा. व. प. १/२८

" दुष्ट मनुष्यों के दर्शन से, उनके साथ वार्तालाप करने से तथा एक आसन पर बैठने से धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं, और मनुष्य किसी कार्य में सफल नहीं हो पाते " ।